धर्मायण

(धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना की पत्रिका)

मूल्य : 45 रुपये
अंक 135
आश्विन,
2080 वि. सं.

पितृ-भक्ति विशेषांक

Facsimile copy of the particular article

पितरों का श्राद्ध और तर्पण क्यों है आवश्यक?

त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता

डा. सुदर्शन श्रीनिवास शाण्डिल्य
व्याकरणाध्यापक, श्रीराम संस्कृत महाविद्यालय, सरौती, अरवल। पटना आवास- ज्योतिषभवन, शिवनगर कालोनी, मार्गसंख्या 10, बेऊर जेल के पीछे, पटना।

पुत्र के कर्तव्यों का यहाँ उल्लेख किया गया है कि जीवित रहते उनका कहना माने मरणोपरान्त क्षयतिथियों पर ब्राह्मण-भोजन करावे तथा गया जाकर पिण्डदान करे। लेखक ने स्पष्ट किया है कि जबतक पुत्री का भी विवाह नहीं हो जाता है, तब तक सारे पुत्री के भी सारे कर्तव्य पुत्र के समान हैं, किन्तु विवाह होने के बाद जब वह बहू बन जाती है तो गोत्र एवं शाखा में परिवर्तन के कारण उसके सारे आध्यात्मिक कर्तव्य श्वसुर के प्रति हो जाती है। इसी क्रम में लेखक ने पितर, पितृलोक, प्रेत तथा श्राद्ध की अवधारणा की व्याख्या की है। उन्होंने श्राद्धकर्म तथा गया में पिण्डदान को अनिवार्य कर्म माना है। लेखक ने न्यायशास्त्र की पद्धति अपनाते हुए लिखा है कि जीवित माता-पिता के रूप में पितर भिन्न हैं तथा मरणोपरान्त अर्यमाप्रमुख पितर भिन्न हैं। अतीत में मृत पितरों से व्यावर्तन के लिए सपिण्डीकरण से पूर्व सद्योमृत व्यक्ति के लिए 'प्रेत' शब्द का व्यवहार है, 'प्रेतयोनि' से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारतीय वैदिक ज्ञान संचार में अनादि सृष्टि की शृंखला नैरन्तर्य से ही पुनर्जन्म-सिद्धान्त पूर्ण परिपक्व परिपुष्ट है। व्यावहारिक दृष्टि से भी सद्योजात शिशु की दुग्धपानादि प्रवृत्ति पूर्वजन्म कृत अभ्यास का संकेतक है। जब से मानव जन्म लेता है तभी से उसके पालन-पोषण में पूर्व व्यवस्था अवस्था तथा इसके कारक गणों की महती भूमिका होती है। इसके सुपरिणाम से ही मानव जीवन अस्तित्व को प्राप्त करता है। अतः इस अस्तित्व के पीछे मुख्य रूप से देवकृपा, ऋषि कृपा तथा पितृकृपा का विशेष अवदान है। जन्मचक्र के आन्तरिक रहस्य में पूर्ण रूप से देवकृपा संचरित है, जिसका भागवतादि पुराणों में विशद वर्णन मिलता है। ऋषिकृपा का तात्पर्य है विशेष रूप से कश्यप ऋषि ने परात्पर ब्रह्म के संकल्प 'एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय' को पूर्ण करने में अवदान दिया है। वैसे पूर्व में सप्त महर्षि तथा सनकादि चार भाइयों के द्वारा विन्दु वंश तथा नाद वंश के द्वारा स्थावर जंगमात्मक जगत् की सृष्टि हुई है। इसका मूल कारण परब्रह्म ही है।

उसी परम पिता के पितृत्व का किंचिदंश मानव योनि में परिव्याप्त है, जिसके फलस्वरूप पितृमातृशक्ति के द्वारा जीव का जन्म तथा पालन होता है। अतः स्वभावतः कार्यकारण के पारस्परिक सम्बन्ध स्वस्थता हितकारिता के दृष्टिकोष से दैनिक जीवन में देवपूजन पितृतर्पण तथा ऋषिपूजन का प्रावधान है।

भागवत में भी कहा गया है—

देवानृषीन् नृभूतानि पितॄणात्मानमन्वहम्।
स्ववृत्त्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक्॥15॥[1]

वर्णाश्रम विहित वृत्ति के द्वारा प्राप्त सामग्रियों से प्रतिदिन देवता, ऋषि मनुष्य, भूत, पितृगण तथा अपने आत्मा का पूजन करना चाहिए। यह उस मूल कारण रूप परमेश्वर की भिन्न-भिन्न रूपों में आराधना है।

बौधायन गृह्यसूत्र का मत है कि मनुष्य तीन प्रकार से ऋण धारण करता है—

विज्ञायते च— जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर् ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इत्येवमृणसंयोगं वेदो दर्शयति।[2]

यहीं आगे कहते हैं कि यह न केवल ब्राह्मणों के लिए बल्कि सभी वर्णों के लिए है—

सर्ववर्णेभ्यः फलवत्त्वादिति फलवत्त्वादिति॥[3]

इन्हीं तीनों ऋणों के सम्बन्ध में मनु ने कहा है कि इन्हें चुकता कर ही मोक्ष में मन लगावें। इन्हें चुकाये बिना मोक्ष में मन लगाने वाले पतित हो जाते हैं।

उक्त परिप्रेक्ष्य में पितृगण के लिए आश्विन कृष्ण पक्ष (पितृपक्ष) में अनिवार्य रूप से पितृगणों के लिए श्राद्धादि का विधान है, जिससे पुत्रत्व की सार्थकता सिद्ध होती है तथा पूर्वजों की प्रसन्नता से पुत्रादिकों का कल्याण होता है। देवी भागवत का कथन है—

जीवतो वाक्यकरणात्क्षयाहे भूरिभोजनात्।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥ 15॥[4]

इसके अनुसार पुत्र के तीन अनिवार्य कर्तव्य होते हैं—

1. जीवित अवस्था में माता-पिता की आज्ञा का पालन करना।
2. मृत्यु की तिथि में बार बार यानी अनेक वर्षों तक ब्राह्मण भोजन कराना।
3. गया में पिण्डदान करना।

इन तीनों व्यवहारों से पुत्रों की उपादेयता सिद्ध होती है।

इस पंक्ति को अनेक स्मृतियों में इसी प्रकार से उद्धृत किया गया है। बृहत्पाराशर स्मृति[5] के 6.196 में इसके आगे पीछे पुत्र के सभी कर्तव्य समझाये गये हैं।

पुत्र के कर्तव्य पर सबसे सुन्दर संकलन ऐतरेय ब्राह्मण के सप्तम पञ्चिका के तृतीय अध्याय अर्थात् 33वें अध्याय में आया है जहाँ 10 गाथाओं में पुत्र की महिमा गायी गयी है—

ऋणमस्मिन्संनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्॥

यदि पिता अपने जीवित रहते पुत्र का मुख देख लेता है तो वह अमर हो जाता है।

यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान्पुत्रे पितुस्ततः॥

प्राणियों के लिए जितने पृथ्वी पर भोग हैं जितने अग्नि में भोग हैं अर्थात् देवयज्ञादि से प्राप्त फल हैं तथा जितने जल से उत्पन्न भोग हैं वे सारे के सारे पुत्र में पिता को प्राप्त हो जाते हैं।

शश्वत्पुत्रेण पितरोऽत्यायन्बहुलं तमः।
आत्मा हि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यतितारिणी॥

एक भी उत्पन्न पुत्र से पितृगण (यहाँ पितरौ द्विवचन न होकर पितरः का प्रयोग है अतः मात-पिता के साथ-साथ पितामहादि का भी बोध होगा।) अंधकार रे लोक को पार कर जाते हैं। आत्मा ही आत्मा को जन्म देती है और वह अन्न से भरी इस पृथ्वी के लोक को पार लगाने वाली होती है।

किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोकोऽवदावदः॥

मल रूप गृहस्थाश्रम कौन सुख देगा? अजिन धारण किया जानेवाला ब्रह्मचर्य कौन सा सुख

1 भागवत, 7.14.15.
2 बौधायन गृह्यसूत्र, 2.9.7.
3 बौधायन गृह्यसूत्र- 2.9.14.
4 देवीभागवत, 6.4.15
5 बृहत्पराशरस्मृति, स्मृति-सन्दर्भ, भाग 2, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, 1952ई. पृ. 772

देगा? दाढ़ी-मूँछों से भरा वानप्रस्थ कौन सुख देगा? तपस्या से युक्त संन्यास कौन सा सुख देगा? अतः पुत्रकी इच्छा करो उस सुख का बखान नहीं किया जा सकता।

अन्नं ह प्राणः शरणं ह वासो
रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः।
सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता
ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्॥

अन्न प्राण है, वस्त्र रक्षा करता है, स्वर्ण केवल रूप वाला है, विवाह तो पाशविक प्रवृत्ति के लिए है। पत्नी केवल मित्र होती है, पुत्री विवाह के बाद वियोग होने के कारण दुःख देती है पर पुत्र परम आकाश की ज्योति के समान है।

पतिर्जायाम्प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते॥

पति स्वयं माता रूपी पत्नी में प्रवेश करता है तथा गर्भ के रूप में स्थित होकर दसवें महीने में उत्पन्न होता है।

तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।
आभूतिरेषा भूतिर्बीजमेतन्निधीयते॥

पत्नी को जाया इसलिए कहते हैं क्योंकि उससे वह पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पत्नी को भूति तथा आभूति भी कहते हैं क्योंकि यह बीज धारण करती है।

देवाश्चैतामृषयश्च तेजः
समभरन्महत्देवा मनुष्यानब्रुवन्नेषा।
वो जननी पुनः नापुत्रस्य लोकोऽ-
स्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः॥

इस स्त्री में देवों और ऋषियों ने महान् तेज धारण कराया है और फिर देवगण ने मनुष्यों से कहा- यह स्त्री तुमलोगों की जननी है।

नापुत्रस्य लोकोऽस्ति तत्सर्वे पशवो विदुः।
तस्मात्तु पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति॥

अपुत्र के लिए कोई लोक नहीं है यह बात पशु भी जानते हैं। अतः पशुजगत् में पुत्र माता और बहन में भी संतान उत्पन्न कर लेते हैं।

एष पन्था उरुगायः सुशेवो
यं पुत्रिण आक्रमन्ते विशोकाः॥
तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च
तस्मात्ते मात्राऽपि मिथुनी भवन्ति।

जिसे पुत्र वाले शोकरहित होकर पाते हैं वह मार्ग महान् व्यक्तियों के द्वारा प्रशंसनीय है। उसी मार्ग को पशु और पक्षी भी जानते हैं अतः वे माता के साथ भी मैथुनरत होते हैं।

यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि सर्वत्र 'पुत्र' शब्द का प्रयोग 'संतति' के अर्थ में हुआ है। 'पुत्र' शब्द यहाँ बेटा तथा बेटी दोनों के लिए आया है; अतः पशु जगत् सन्दर्भ में भी इन गाथाओं में पुत्र शब्द व्यवहृत है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि पिण्डदानादि में पुत्र तथा अविवाहित पुत्री का समान अधिकार है। विवाह हो जाने के बाद महिला अपने श्वसुर का पिण्डदानादि कर्म तो कर सकती है, किन्तु पिता की नहीं, क्योंकि विवाह के बाद गोत्र तथा शाखा बदल जाती है। अतः श्राद्धादि के प्रसंग में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं है।

गया में पिण्डदान करने का प्रसंग वाल्मीकि रामायण में आया है। अयोध्याकाण्ड में भरत को अयोध्या लौटने का उपदेश देते हुए राम कहते हैं—

ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्।
पितरं चापि धर्मज्ञं मातरं चाभिनन्दय॥

हे भरत, मेरे लिए राजा दशरथ को ऋणों से मुक्त करो अर्थात् उनके द्वारा किये जाने वाले तीनों प्रकार के ऋणों से मुक्ति के उपाय अब मेरे कन्धे पर आ पड़ा है अतः मेरे बदले में तुम यह कार्य करो। दिवंगत धर्मज्ञ पिता तथा माताओं को प्रसन्न करो।

श्रूयते हि पुरा तात श्रुतिर्गीता यशस्विना।
गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितॄऽन् प्रति॥

ऐसा सुना जाता है कि प्राचीन काल में यशस्वी यजमान गय ने गया में पितरों से यह प्रार्थना की थी।

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यत्पाति वा सुतः॥

पुं नामक नरक से जो बेटा पिता को त्राण दिला है, वह पुत्र कहलाता है अथवा पिता की जो रक्षा करता है वह पुत्र कहलाता है।

एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजेत्॥[6]

इसीलिए बहुत गुणवान् तथा विद्वान् पुत्रों की कामना करनी करनी चाहिए ताकि उस सभी में से एक भी यदि गया चला जाये तो पितरों का उद्धार हो जाता है।

यहाँ श्रीराम के कहने का अभिप्राय है कि हम चार भाई हैं इनमें से अकेला भरत भी पिता के प्रति कर्तव्य को निभा सकता है।

यह श्लोक महाभारत में भी वनपर्व में तीर्थयात्रा प्रसंग में आया है—

एष्टव्या बहवः पुत्राः यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्॥[7]

अर्थात् हमें अनेक पुत्रों की कामना करनी चाहिए ताकि इनमें से कम से कम एक भी गया चला जाये।

इसी तथ्य को बृहस्पति-स्मृति में भी दुहराया गया है—

अपुत्रेण सुतः कार्यो यादृक्तादृक्प्रयत्नतः।
पिण्डोदकक्रियाहेतोर्धर्मसंकीर्तनस्य च॥

विना पुत्र वाला व्यक्ति जिस किसी भी प्रकार से पिण्डोदक क्रिया के लिए और धर्म-संकीर्तन के लिए सन्तान उत्पन्न करे।

काङ्क्षन्ति पितरः पुत्रान्नरकापतभीरवः।
गयां यास्यति यः कश्चित्सोऽस्मान्संतारयिष्यति॥

नरक से डरे हुए पितर पुत्र से इच्छा रखते हैं कि कोई एक पुत्र यदि गया चला जाये तो वह हमारा उद्धार कर देगा।

यथा जलं कुप्लवेन तरन्मज्जति मानवः।
तद्वत्पिता कुपुत्रेण तमस्यन्धे निमज्जति॥

जैसे खराब नाव से नदी पार करता हुआ मनुष्य डूब जाता है, उसी प्रकार दुष्ट पुत्र से पिता अन्धकार भरे तमोलोक में डूब जाते हैं।

करिष्यति वृषोत्सर्गं इष्टापूर्तं तथैव च।
पालयिष्यति वार्धक्ये श्राद्धं दास्यति चान्वहम्॥[8]

पितर इच्छा करते हैं कि मेरा पुत्र बैल उत्सर्ग करेगा, इष्ट एवं पूर्त करेगा तथा बुढ़ापे में पालन करेगा और दिनानुसार श्राद्ध करेगा।

इस प्रकार ऊपर जो पुत्र के लिए विहित कर्म कहे गये हैं, उनमें से प्रथम मुक्य उपादेय है जो आज खण्डित एवं नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है, जिसके कारण आश्रम धर्म के पालन में विविध प्रकार के कष्ट आ रहे हैं। अतः हमारा प्रथम कर्तव्य बनता है कि हम जीवित माता-पिता के वचनों का पालन करें, भूलकर भी अशिष्ट, मानसिक कष्टदायक व्यवहार न करें। यदि जीवतो वाक्यकरणात् का अनुपालन हम करते हैं तो यह हमें श्रेय की ओर ले जाने में पूर्ण समर्थ है।

लेकिन यहाँ विचारणीय है कि क्या केवल जीवित माता-पिता के प्रति ही हमारा कर्तव्य बनता है? इसेस पूर्व जो दिवंगत हो चुकी पीढ़ियाँ हैं उनके प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं। वस्तुतः जबतक माता-पिता जीवित हैं तब तक अपने दिवंगत पितरों के प्रति सारा कर्तव्य उनका है। माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त वे अपने सारे कर्तव्य पुत्र पर सौप जाते हैं। इसीलिए उपर्युक्त

6 वाल्मीकि-रामायण : 2.107.10-13
7 महाभारत वनपर्व, तीर्थयात्रा पर्व, अध्याय 84. प्रथम भाग, कोलकाता संस्करण 1834ई. पृ. 533.
8 बृहस्पति स्मृति : 1.26.88-91

वचन में कहा गया है— **क्षयाहे भूरि भोजनात्**। वास्तव में माता-पिता की जब मृत्यु हो जाती है तो वे अपना कर्तव्य पुत्र पर सौंप जाते हैं, फलतः पितामहादि मृत पूर्वजों के लिए भी जो उनके पिता के कर्तव्य थे वे पुत्र के कन्धे पर आ जाते हैं अतः प्रतिदिन नहीं तो वर्ष में कम से कम पितृपक्ष में तर्पणादि पितृकर्म अवश्यकर्तव्या की कोटि में आ जाते हैं। हमारे शास्त्रकारों ने इस नित्यकर्म माना है, जिसके न करने पर वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

'श्राद्ध' शब्द का अर्थ

वैदिक धर्म संचार में 23 या 16 संस्कारों में अन्त्येष्टि संस्कार का विशेष महत्त्व है। संस्कारों का सम्पूर्ण सम्बन्ध मानव शरीर से है। मानव योनि कि लिए ही सम्पूर्ण शास्त्रीय विधान हैं। अन्त्येष्टि संस्कार की पूर्णता द्वादशदिवसीय श्राद्ध विधि से ही होती है। श्राद्ध की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

प्रेतं पितॄश्च निर्दिश्य भोज्यं यत्प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिचक्षते॥[9]

प्रेत तथा पितरों के उद्देश्य से श्रद्धा के साथ अपन प्रिय भोज्य पदार्थ प्रदान करना श्राद्ध कहलाता है। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रेत शब्द एकवचन में है तथा पितॄन् बहुवचन है। स्पष्ट है कि **यहाँ 'प्रेत' शब्द से केवल एक उसी व्यक्ति का बोध होता है जो सद्यःमृत हो। अतः पितर से व्यावर्तन के लिए 'प्रेत' शब्द का पृथक् व्यवहार हुआ है। अतः 'प्रेत' शब्द अदृश्य अशुभ शरीरधारी का वाचक नहीं है। प्रकर्षेण इतः गतः इति प्रेतः**। प्रकृष्टता के साथ जिनका गमन हुआ है— वह प्रेतशब्दवाच्य है। मानव इन्द्रियातीत सूक्ष्मगति ही प्रकृष्टता है। उत्तरक्षणावच्छिन्न मरणासन्न प्राणी को देखकर परिजन समझ जाते हैं कि कुछ क्षण के लिए है। परिजन देखते रह जाते हैं इसी मध्य प्राण का मन से विच्छेद हो जाता है जिसे मृत्यु शब्द से अभिप्रेत किया जाता है। मृङ् प्राणवियोगे धातु से मृत्यु शब्द की निष्पत्ति होती है। आत्मा अजर-अमर है, अनादि सृष्टि में अनादि कर्म पालनप्रवाह में शुभ-अशुभ कर्मों की सम्पृक्तता आत्मा को निसर्गतः प्राप्त है। तदनुसार—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा॥[10]

संक्षेप में शास्त्रविहित शुभ आचरण करने वाले उत्तम योनि को प्राप्त करते हैं, पर शास्त्रविरुद्ध अशुभ आचरण करने वाले पापयोनियों को प्राप्त करते हैं। एतावता सुस्पष्ट सिद्ध है कि कर्मानुसार मरणानन्तर शरीरधारी आत्मा को शुभ-अशुभ योनियों में जाना पड़ता है। यह सम्बन्ध अदृश्य तथा ईश्वरीय शक्ति के अधीन और तर्कातीत है। इस विषय में शास्त्रालम्बन ही विवेकशीलता है।

मृत्युकाल में वासना (अन्तिम इच्छा) के अनुकूल आत्मा का अग्रिम संचार होता है। वह अग्रिम संचार शुभ हो एतदर्थ वंशजों तथा हितैषियों के द्वारा श्राद्ध का विधान वैदिक काल से ही है।

कुछ सिरफिरे जनों ने इस विषय में मनगढन्त अपलाप किया है, जो सर्वथा वेदसिद्धान्त के विरुद्ध है। कात्यायन स्मृति के अनुसार श्राद्ध को पितृयज्ञ कहा गया है—

श्राद्धं वा पितृयज्ञः स्यात् पित्र्योर्बलिरथापि वा।
स्वर्गापवर्गयोः सिद्धिं पञ्चयज्ञात् प्रचक्षते॥[11]

ऋग्वेद में भी कहा गया है—

9. कमलाकरभट्ट कृत निर्णयसिन्धु में श्राद्ध प्रकरण के आरम्भमें उद्धृत मरीचि का वचन।
10. छान्दोग्योपनिषद्, 5.10.7

यो अग्निः क्रव्यात्प्रविवेश
वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्।
तं हरामि पितृयज्ञाय देवं
स घर्ममिन्वात्परमे सधस्थे ॥[12]

अर्थात् कच्चे मांस को दाहसंस्कार में भक्षण करने वाला जो श्मशानाग्नि वह अग्नि मेरे घर में प्रवेश कर गये है उस अग्नि को मैं पितृयज्ञ के निमित्त शुद्ध कर स्थापित करता हूँ। इस ऋग्वेदीय मन्त्र के अनुसार श्राद्ध वैदिक काल से लोक स्वीकृत है। अतः श्राद्ध को कल्पित मानना दुराग्रहमूलक है।

अथर्ववेद का कथन है—

जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने
पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः ॥[13]

और भी

परापरैता वसुविद्वो अस्त्वधा
मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥48॥[14]

इन मन्त्रों से मरणान्तर गति का स्वरूप प्राप्त होता है। अतः श्राद्धकर्म का वैदिक मूल है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि पितर शब्द का विशेष अर्थ वेद के अनुसार है।

'पितर' कौन होते हैं?

यहीं से 'पितर' की अवधारणा आरम्भ होती है। **यद्यपि विगत शताब्दी में मनमाने ढंग से केवल जीवित माता-पिता को ही पितर मान लेने का आग्रह किया गया है तथा इसी परिभाषा के आधार पर मृत पूर्वजों का अस्तित्व समाप्त कर वैदिक भावना को ठेस पहुँचायी गयी है।** ऋग्वेद कहता है—

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यसि वरुणं च देवम्।[15]

हे पितर! जिस स्थान को हमारे प्राचीन पितर पितामह आदि गए हैं, उसी मार्ग से आप भी जायें और उस स्थान पर पहुँचकर स्वधा से प्रसन्न होते हुए दोनों राजा यम तथा वरुणदेव का दर्शन करें।

यहाँ स्पष्ट है कि पितर का अर्थ जीवित माता-पिता नहीं, बल्कि वे पूर्वज हैं जिनका अग्निसंस्कार हो चुका है। अतः वेद में पितर के लिए 'अग्निष्वात्ताः' तथा 'अग्निदग्धाः' ये दो शब्द आये हैं। यदि केवल जीवित माता-पिता ही 'पितर' शब्द से अभिप्रेत होते तो जीवतो वाक्यकरणात् के अर्थ में ही शेष दोनों की निवृत्ति हो जाती अलग से कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। किन्तु जब महाभारत, रामायणादि मे **गयां गच्छेत्** और **क्षयाहे भूरिभोजनात्** कहा गया है तो स्पष्ट है कि यहाँ पितृकर्म का उल्लेख हुआ है और अग्निसंस्कार किए गये पितर का भी अस्तित्व है। उनके प्रति भी हमारा कर्तव्य बनता है।

उदन्वतीद्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितरआसते।[16]

उदन्वती द्यौः सबसे नीचे है, **पीलुमती** बीच में है तथा तीसरी द्यौः **प्रद्यौः** है जहाँ पितर रहते हैं। ये पितर निश्चित रूप से पालयतीति पिता से भिन्न हैं। ये जीवित माता-पिता नहीं हो सकते। 'पितर' शब्द की स्वतन्त्र सिद्धि भी अच् प्रत्यय से होती है। होती है। गीता में भी **'पितॄणामर्यमा चास्मि'**[17] में जीवित माता-पिता को ही पितर मान लेना अज्ञानता है। कव्यवाह, अनल, सोम, यम अर्यमा, अग्निष्वात्त तथा बर्हिषद् ये सात पितर हैं, इनमें अर्यमा श्रेष्ठ माने गये हैं। अतः पितर शब्द का जो अर्थ आर्य समाजी लोग लगाते हैं वह मनगढ़न्त है।

11. बृहद्धर्मपुराण, 5.23. पं. हरप्रसाद शास्त्री (सम्पादक), बिबिलियोथेका इंडिका सीरीज, भाग 1, कलकत्ता, 1888ई. पृ. 514.
12. ऋग्वेद 10.16.10.
13. अथर्ववेद 12.2.45.
14. अथर्ववेद 18.4.48.
15. ऋग्वेद 10.14.7.
16. अथर्ववेद 18.2.48.
17. गीता 10.29.

'प्रेत' शब्द का अर्थ

प्रेत शब्द का सीधा अर्थ है— **प्रकर्षेण गतः**। इस शब्द का व्यवहार सद्यः मृत व्यक्ति के लिए व्यवच्छेदकता हेतु है। पितामहादि जो पूर्व में दिवंगत हो चुके हैं वे भी पितर कहे जाते हैं। सद्यःमृत व्यक्ति का निर्देश करने के लिए प्रेत शब्द व्यवहार्य है ताकि पितर से व्यवच्छेदकता निरूपित हो सके। अन्यथा सपिण्डीकरण से पूर्व सद्यःमृत व्यक्ति का बोध कैसे होगा? यदि पिता आदि शब्द से ही सद्यःमृत को बोध कराया जाये तो जिस स्थिति में लोगों को माता-पिता से भिन्न व्यक्ति का श्राद्ध करना पड़ता है वहाँ अतिपात होगा। मत्पुत्रत्वकर्यता की स्थिति में भी सद्यःमृत प्राणी का ही बोध हो इसके लिए श्राद्ध-एकोद्दिष्टादि में प्रेतत्व शब्द की योजना होती है। इससे प्रेतयोनि का अर्थ लेना सर्वथा अज्ञानता है। श्राद्धादि में प्रयुक्त 'प्रेत' शब्द का एक ही अर्थ है— सद्योमृत व्यक्ति, इसका कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता है। 'प्रेतयोनि' का अर्थ लेना सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार, पुत्र अर्थात् संतति का कर्तव्य है कि वे अपने पूर्वजों के लिए पितृकर्मों का निर्वाह करे। व्यवहार में माता-पिता, पितामह-पितामही, प्रपितामह-प्रपितामही, वृद्धप्रपितामहादि, वृद्धप्रपितामह्यादि, माता मह-मातामही, प्रमातामह-प्रमातामही, वृद्धप्रमाता-महादि, वृद्धप्रमातामह्यादि —इन 14 पितरों को जल से तृप्त करें। तर्पण के समय ब्रह्मा से लेकर अपने दिवंगत पिता तक को जल दें, इस जन्म तथा अन्य जन्म के सभी बन्धु-बान्धवों तथा अपने कुल के संततिहीन व्यक्ति के लिए भी जल दें। इतने व्यापक कर्तव्यों को समेटते हुए तीन प्रकार से पुत्रता मिलने की बात शास्त्रों में कही गयी है।

इति।

श्राद्ध किसे कहते है?

(ख) तत्स्वरूपमाह पृथ्वीचन्द्रोदये मरीचिः-

प्रेतं पितॄंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम्।

श्राद्ध का स्वरूप पृथ्वीचन्द्रोदय में उद्धृत मरीचि ने कहा है-

प्रेत और पितरों को उद्धिष्ट कर जो अपना प्रिय भोज्य पदार्थ जहाँ श्रद्धापूर्वक अर्पित किया जाता हो, उसे श्राद्ध कहते हैं।

भट्ट कमलाकर, निर्णयसिन्धु, तृतीय परिच्छेद उत्तरार्द्ध, निर्णयसागर प्रेस, 1901ई., पृ. 279-